THE TIMES OF INDIA

Date:02-04-24

Global War Inc

Why do so many wars carry on and on? Because the political-military-industrial complex wants them to.

TOI Editorials

Over the weekend tens of thousands of Israelis began four days of demonstrations against their govt over its handling of the Gaza war. But is Netanyahu listening? No. In ports across the world some dock workers and others have protested shipments of military cargo to Israel. Has that halted Israel's offensive? No. This dissonance between decision makers and increasingly vocal popular opinion shows why it's really difficult to stop conflicts today.

The political-military-industrial complex | Arms companies benefit from wars. Generals, who don't usually die fighting, like weapons. Therefore, they like arms companies. But the influence of arms companies on political leadership is less discussed. Per SIPRI, Europe is witnessing record defence spending with companies like Germany's Rheinmetall and France's Dassault Aviation witnessing 367% and 89% growth, respectively, in share prices. Almost all politicians like companies that are doing well, they like jobs being created, and they respect their generals. Plus, wanting to be macho is a universal political weakness. Hence the politicalindustrial-military complex.

Joe's finessing | Look at Biden. Despite protests from young Democrats, he continues to ship weapons to Israel. He also says protesters have a point. But he fears cutting off weapons supplies to Tel Aviv might jeopardise his re-election campaign – American arms firms like Lockheed Martin, Raytheon and General Dynamics are big political financers. And generals want weapons to be tested.

Tail wagging the dog? | Africa is awash with weapons and multiple conflict zones. Little wonder, all top weapons manufacturers have a presence on the continent. Russia is a leading arms supplier in the sub-Saharan region. China is close behind in second spot, while US and France continue to have new and legacy weapons platforms. This again begs interesting questions: Would disputes such as the one over the Moroccan Sahara continue if Russia hadn't been a major supplier of arms to West-backed Morocco's rival Algeria? Was the war against Gaddafi's Libya a move to open up new markets for arms producers? Is Sudan a test bed for Western and Russian weapons?

These questions are asked because many wars around the world just go on and on. Mad dictators are only one part of the answer. Who supplies the weapons? The global arms industry today is more powerful than ever. And when its interests align with those of politicians, whether in democracies or in autocracies, war becomes big business – and deaths become statistics.

Date:02-04-24

भारत 'एशिया की फैक्ट्री' बन सकता है, बशर्ते !

संपादकीय

कई स्थापित संस्थाओं के प्रमुखों और भारत पर शोध कर रहे विद्वानों ने माना है कि देश चीन को पछाड़कर 'एशिया की फैक्ट्री' बन सकता है, लेकिन उनका शक अफसरशाही की क्षमता और लगन को लेकर है। मैन्युफेक्चरिंग क्षेत्र में सिंगापुर की एक कंपनी भारत में उपक्रम लगाने आई तो उसे कागजी कार्रवाई में छह माह लगे। वर्ल्ड बैंक के भारतीय मूल के अध्यक्ष ने कहा कि भारत में इस मकाम पर पहुंचने की क्षमता तो है उसके पास समय केवल तीन-चार साल का ही है। कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी एक भारतीय लेखक ने आगामी 4 अप्रैल को रिलीज होने वाली पुस्तक में लिखा कि भारत को पहले शिक्षा और अफसरशाही में सुधार करना होगा। उनके शोध के अनुसार कक्षा से जितने प्रतिशत छात्र नदारद रहते हैं, उतने ही शिक्षक भी नहीं आते। औसतन हर 15 माह में अधिकारियों का ट्रांसफर होता है, लिहाजा उद्देश्य विशेष पर न तो उसकी समझ विकसित होती है ना ही उसे अंजाम देने का समय मिलता है। अगर आंकड़े देखें तो फिलहाल भारत और चीन में जमीन-आसमान का अंतर है। चीन में भारत के मुकाबले 12 गुना ज्यादा फैक्ट्रियां हैं, जिनमें दूने से ज्यादा कामगार लगे हैं। उनका जीडीपी में प्रतिशत शेयर भी डेढ़ गुना है आठ गुना अधिक है। ध्यान रहे कि चीन की जीडीपी का आयतन भी साढ़े छह गुना ज्यादा है। आबादी में जरूर भारत ने विगत वर्ष चीन को पछाड़ दिया। उपरोक्त शोधकर्ता ने पाया कि ग्रामीण भारत में पांच साल की स्कूलिंग के बाद हर पांच में तीन बच्चे कक्षा 2 के शब्द लिख - बोल नहीं सकते और जहां पिछले पांच वर्षों में यह प्रतिशत लगातार बढ़ा है, सरकारों का ध्यान मिशन मोड में आकर शिक्षा और स्वास्थ्य में सुधार पर होना चाहिए। अगले पांच वर्षों में देश की जीडीपी वृद्धि औसतन 6.5% रहने की उम्मीद है जबकि चीन, जापान और दक्षिण कोरिया अपने विकास - काल में औसत 10 फीसदी की रफ्तार से दौड़े थे। भारत के नीति-निर्माताओं को आमूलचूल बदलाव करना होगा।

दैनिक जागरण

Date:02-04-24

विकसित देशों से सीख ले भारत

शिवकांत शर्मा, (लेखक बीबीसी हिंदी के पूर्व संपादक हैं)

अपने उत्कर्ष के दिनों में भारत एक उद्यम प्रधान और कारोबारी देश रहा है। सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य की राजसभा में आए यूनानी सम्राट सेल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज ने अपनी पुस्तक 'इंडिका' में भारतीय समाज के सात वर्गों का उल्लेख किया है। इनमें अधिकांश लोग बुद्धिजीवी, किसान, कारोबारी, शिल्पकार और सैनिक वर्गों के थे। बहुत कम लोग सेवक थे और नौकरी करते थे। नौकरी को निर्भरता और पराधीनता वाला काम होने की वजह से हेय समझा जाता था। आर्थिक इतिहासकार एंगस मैडिसन ने भी विश्व अर्थव्यवस्था के इतिहास में इसकी पुष्टि की है, परंतु सदियों की गुलामी के बाद आजाद हुए भारत में परिस्थितियां पूरी तरह बदल गई हैं। आज लोगों को वेतन की सुरक्षा वाली नौकरी की पराधीनता आर्थिक असुरक्षा वाले कारोबारी उद्यम से बेहतर लगने लगी है। विशेष रूप से सरकारी नौकरी जिसे काम की सुरक्षा और पेंशन की वजह से सर्वोपरि माना जाता है। कारोबारी उद्यम को आर्थिक असुरक्षा के साथ-साथ मुनाफाखोरी के काम के रूप में देखा जाता है। इसकी बड़ी वजह हमारी उपनिवेशकालीन शिक्षा प्रणाली है जो उद्यम, सृजनशीलता और गवेषणा का कौशल एवं अनुभव देने की जगह रटने वाली पढ़ाई पर केंद्रित है। इससे शिक्षित स्नातक उद्यम, श्रम और गवेषणा से विमुख होकर दफ्तरी या मशीनी काम करने योग्य बनते हैं। उनकी उपादेयता खत्म होती जा रही है, क्योंकि कृत्रिम बुद्धिमत्ता (एआइ) के विकास के कारण मशीनें कई कामों को अधिक कुशलता और गति से कर सकती हैं। इसीलिए गांधी जी ने अपनी 'नई तालीम' में शिक्षा को श्रम से जोड़ने की बात की थी।

शिक्षाशास्त्री अनिल सद्गोपाल की अध्यक्षता में बनी समिति की रिपोर्ट में कहा गया था कि शिक्षा को काम के साथ जोड़ना बच्चों को समाज से जोड़ने जैसा है। इससे उनमें श्रम के प्रति श्रद्धा पैदा होती है और अनुभूतिजन्य ज्ञान भी मिलता है। श्रम और बौद्धिकता के इस संतुलन को प्रयोगिक रूप देने के लिए रांची के पास नेतरहाट में एक प्रायोगिक विद्यालय खोला भी गया, लेकिन उसकी सफलता के बावजूद उसे देश भर में नहीं फैलाया गया। नतीजा सबके सामने है। इस पर बहस हो सकती है कि देश में 21-30 के बीच किस आयु वर्ग के शिक्षितों में बेरोजगारी की दर सबसे ऊंची रहती है, किंतु वास्तविकता यह है कि उत्तर प्रदेश में सिपाहियों की लगभग 60 हजार नौकरियों के लिए 50 लाख से भी अधिक स्नातकों ने आवेदन किए और परीक्षा में जाने के लिए रेलगाड़ियों में जगह तक नहीं मिली। यह भी किसी से छिपा नहीं कि मुट्ठी भर नागरिक सेवाओं के लिए कैसे लाखों स्नातक कोटा और पुणे जैसे शहरों के कोचिंग संस्थानों में जाकर कई साल तक तैयारी करते हैं। यह सब इसलिए हो रहा है, क्योंकि भारत में हर साल औसतन 15 लाख इंजीनियरों समेत करीब एक करोड़ छात्र स्नातक बनते हैं। योग्यता सर्वेक्षणों के अनुसार इनमें से केवल 25 प्रतिशत एमबीए स्नातक, 20

प्रतिशत इंजीनियर और मात्र 10 प्रतिशत सामान्य स्नातक ही काम के योग्य होते हैं। बाकी को या तो नए सिरे से प्रशिक्षित करना पड़ता है या ऐसा काम देना पड़ता है, जिसके लिए वे मानसिक रूप से तैयार नहीं होते।

काम-धंधों को लेकर सामाजिक सोच इतना नकारात्मक है कि यदि कोई नेता रोजगार के लिए उनकी मिसाल भी दे तो हंसी का पात्र बना दिया जाता है। कारोबारी उद्यम और काम-धंधों के लिए बाजार में प्रतिस्पर्धा भी कड़ी होती जा रही है। छोटी जोत की समस्या के कारण 10 करोड़ से अधिक किसान दूसरे काम-धंधों की तलाश में हैं। दस्तकारी और कारीगरी जैसे काम-धंधों की पुश्तैनी परंपरा या तो टूट चुकी है या मशीनों के माल के सामने टिक नहीं पाती है। इन सभी को रोजगार के लिए प्रशिक्षण, पूंजी और बाजार की जरूरत है। इसीलिए बेरोजगारी का मुद्दा हर चुनाव में चर्चा पाता है। इस बार के आम चुनाव में भी कांग्रेस ने 30 लाख सरकारी नौकरियां, हर स्नातक और डिप्लोमा धारक को एक लाख रुपये प्रति वर्ष का भत्ता एवं प्रशिक्षण और युवाओं को जिला स्तर पर स्टार्टअप फंड देने की घोषणा को युवा न्याय गारंटी का नाम दिया है। भाजपा समेत अन्य दल भी आने वाले दिनों में ऐसी ही घोषणाएं करेंगे, लेकिन शिक्षा प्रणाली को कारोबारी उद्यम और अनुसंधानमुखी बनाकर समस्या के मूल समाधान की बात शायद ही कोई करे।

सबसे दिलचस्प बात यह है कि भारत में रोजगार का मतलब नौकरी ही माना जाता है। जब भी कोई दल रोजगार की बात करता है तो सरकारी नौकरियां बढ़ाने या भरने की बात ही करता है। उद्योग-धंधे, कारोबार और काम-धंधे बढ़ाकर रोजगार सृजन की बात कम होती है। यूरोप, अमेरिका और जापान में ऐसा नहीं होता। वहां पार्टियां सरकारी नौकरियां बढ़ाने की जगह उन्हें घटाकर खर्च बचाने और बचे पैसों से उद्योग और कारोबार को बढ़ावा देकर रोजगार पैदा करने की बात करती हैं। सरकारी नौकरियों को रोजगार नहीं, बल्कि रोजगार टैक्स के रूप में देखा जाता है, क्योंकि उनका वेतन टैक्स के पैसे से दिया जाता है। नौकरियों से आज तक कोई देश उन्नत नहीं हुआ। उन्नति उद्योग-धंधों से ही होती है। इसलिए विकसित देशों में पार्टियां सरकारी खर्च घटाने और उद्योगों-कारोबारों को फैलाकर आमदनी बढ़ाने की बात करती हैं।

असली रोजगार सृजन उद्योग और कारोबार ही कर सकते हैं। वे रोजगार भी देते हैं और टैक्स भी। कांग्रेस की 30 लाख सरकारी नौकरियां देने की घोषणा को ही लें। इस समय केंद्र सरकार के कर्मचारियों की संख्या लगभग 33 लाख है, जिनके वेतन पर 3.25 लाख करोड़ खर्च होता है। यदि इनमें 30 लाख और जोड़ दिए गए तो वेतन पर होने वाला खर्च तीन लाख करोड़ और बढ़ जाएगा। इसी पैसे को यदि उद्योग-धंधों को बढ़ावा देने पर खर्च किया जाए तो रोजगार भी बढ़ सकते हैं और टैक्स की आमद भी। लोगों को बिना काम किए भत्ते और मुफ्त की बिजली देना और सरकारी नौकरियां भरते जाना सामाजिक न्याय नहीं, बल्कि उसके नाम पर किया जाने वाला अनुत्पादक खर्च है। सरकार का दायित्व करदाता की पाई-पाई को उत्पादक कामों में लगाना है, जिससे अर्थव्यवस्था का विकास हो। वोटों के लिए अनुत्पादक फिजूलखर्ची करना नहीं। मतदाताओं को यह बात समझकर और स्वावलंबी बनकर आर्थिक रूप से जिम्मेदार प्रतिनिधियों के चुनाव को प्राथमिकता देनी होगी।

जनसत्ता

Date:02-04-24

अवैध दावेदारी

संपादकीय

अरुणाचल प्रदेश पर चीन ने एक बार फिर अपनी दावेदारी दिखाने की कोशिश की है। वहां के नागरिक मामलों के मंत्रालय ने अपनी आधिकारिक वेबसाइट पर अरुणाचल की तीस जगहों के नाम जारी किए हैं। पिछले सात वर्षों में यह चौथी बार है, जब चीन ने अरुणाचल की जगहों के भारतीय नामों को बदल कर चीनी नाम जारी किए हैं। अरुणाचल को वह जंगनान कहता और उसे दक्षिणी तिब्बत का हिस्सा बता कर उसे अपने नक्शे में दिखाता रहा है। हालांकि भारत ने हर बार उसकी ऐसी हरकतों का पुरजोर विरोध किया और दोहराया है कि अरुणाचल भारत का अभिन्न हिस्सा है और रहेगा। मगर चीन वास्तविक नियंत्रण रेखा पर घुसपैठ करने की कोशिशों से बाज नहीं आता। उसके ताजा कदम के पीछे की वजहें समझी जा सकती हैं। पिछले महीने प्रधानमंत्री ने अरुणाचल में सैन्य सुरंग का उद्घाटन किया था, तब भी चीन ने आपत्ति दर्ज की थी। दरअसल, उसी के बाद से चीन को लगता है कि भारत के अरुणाचल वाले हिस्से पर उसके कब्जे की रणनीति अब कामयाब नहीं होने पाएगी, क्योंकि इस सुरंग के खुल जाने से चीन के बहुत करीब तक भारतीय सेना की आसान पहुंच हो सकेगी।

प्रधानमंत्री की अरुणाचल यात्रा के बाद अमेरिका ने भी कह दिया कि अरुणाचल को वह भारतीय क्षेत्र के रूप में मान्यता देता है और वास्तविक नियंत्रण रेखा के पार सैन्य या असैन्य घुसपैठ या अतिक्रमण के जरिए क्षेत्रीय दावे करने के किसी भी एकतरफा प्रयास का दृढ़ता से विरोध करता है। इससे चीन की तिलमिलाहट और बढ़ गई। दरअसल, चीन इसी तरह धौंस-पट्टी से या चोरी-छिपे वास्तविक नियंत्रण रेखा पार कर भारतीय क्षेत्र में अतिक्रमण करने का प्रयास करता रहा है। गलवान घाटी में उसके सैनिक इसी कोशिश के तहत घुसे थे, जिसे भारत ने पूरी ताकत से नाकाम कर दिया था। हालांकि बताया जाता है कि अब भी भारत के कुछ हिस्सों पर उसने अवैध तरीके से कब्जा कर रखा है। मगर इस तरह अंतरराष्ट्रीय संधियों का उल्लंघन कर और अपने नक्शे में पड़ोसी देश के हिस्से को दिखा कर कोई देश उस भूभाग का अधिकारी नहीं बन सकता। चीन इस तथ्य को नहीं झुठला सकता कि अरुणाचल को वह जिस तिब्बत का दक्षिणी हिस्सा बताता है, उस तिब्बत पर उसने खुद अवैध रूप से कब्जा कर रखा है। अंतरराष्ट्रीय संधि के मुताबिक तिब्बत उसका हिस्सा नहीं, बल्कि स्वतंत्र राष्ट्र है। इस तरह चीन दो-दो भूभागों पर अवैध दावेदारी जताता रहा है।

चीन अपनी विस्तारवादी नीतियों के तहत किस तरह पड़ोसी देशों, खासकर भारत की सीमा से सटे देशों में अपनी उपस्थिति बनाए रखने के तरह-तरह के हथकंडे अपनाता रहा है, वह अंतरराष्ट्रीय समुदाय से छिपा नहीं है। पाकिस्तान, श्रीलंका, मालदीव आदि को वित्तीय मदद पहुंचा कर वह उनके बंदरगाहों आदि पर लंबी अवधि का करार करके कब्जा जमा चुका है। दरअसल, भारत का आर्थिक विकास और दुनिया में एक ताकतवर शक्ति के रूप में उदय चीन को लगातार खटकता रहा है। फिर, अमेरिका के साथ बढ़ती उसकी नजदीकी भी उसे रास नहीं आती। इसलिए मनोवैज्ञानिक दबाव बनाने की मंशा से वह भारत के आसपास अपनी सामरिक और जासूसी गतिविधियां चलाने की कोशिश करता देखा जाता है। अन्यथा चीन इस बात से अनजान नहीं होगा कि किसी देश के किसी भूभाग का नाम बदल कर और उसे अपने नक्शे में दिखा कर उस पर कब्जा नहीं किया जा सकता।

राष्ट्रीय सहारा

Date:02-04-24

सहमति-असहमति के बीच

संपादकीय

राज्यपालों की ओर से विधेयकों को रोके जाने की आलोचना करते हुए सर्वोच्च अदालत की जज जस्टिस बीकी नागरत्ना ने कहा उनका उन पर फैसला लेना है। यह शर्म की बात है कि अदालत को राज्यपालों को उनकी ड्यूटी याद दिलानी पड़े। हैदराबाद में हुए कार्यक्रम में उन्होंने महाराष्ट्र व पंजाब के फैसलो का भी जिक्र किया। कहा कि सवाल यह था कि क्या राज्यपाल के पास फ्लोर टेस्ट कराने का कोई ठोस सबूत थे कि मौजूदा सरकार विधायकों का विश्वास खो चुकी है। राज्यपालों को अदालतों में खींचने को भी उन्होंने संविधान के तहत स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं कहा। नोटबंदी के फैसले का भी उन्होंने विरोध किया और काला धन जमा करने वालों को हुए फायदे व आ लोगों को हुई परेशानी पर भी बोलीं। हालांकि जस्टिस उन पांच जजों वाली पीठ के हिस्सा थीं, जिसने सरकार के इस फैसले में असहमति जताई थी कि यह दबाजी में लागू किया गया। उनका यह कहना कि इससे सिर्फ कानून तोड़ने वालों को ही फायदा हुआ, जिन्होंने अपना काला धन सफेद बना लिया। सरकार पर इस तरह के आरोप विपक्ष द्वारा भी लगाए जाते रहे हैं। यह सच है कि नोटबंदी के दौर को याद कर आम लोगों के अभी भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। राज्यपाल संवैधानिक पद है, जिसकी गरिमा का ख्याल रखा जाना चाहिए। लंबे समय से देखने में आ रहा है कि राज्य सरकारों और राज्यपाल के दरम्यान सामंजस्य नहीं बन पाता। खासकर जहां-जहां विपक्षी दलों की सरकारें हैं, वहां राज्यपाल केंद्र की शह पर अड़चनें खड़ी करते हैं, जिससे सरकारों को अदालत का रुख करने को मजबूर होना पड़ता है। इस विवाद का निपटारा सत्ताधारी दल को संवैधानिक तौर पर करने की पहल करनी चाहिए। गौरतलब है जस्टिस नागरत्ना अपने कड़े फैसलों के लिए जानी जाती हैं और 2027 में उनके पहली महिला मुख्य न्यायाधीश बनने की संभावना है। ऐसे में उनके किसी भी नजरिये या तल्ख टिप्पणी की उपेक्षा की जानी उचित नहीं कही जा सकती। ये विचार उनके नितांत निजी हो सकते हैं मगर इनसे असहमति नहीं रखी जा सकती। किसी भी सरकार के सौ फीसद फैसले सही नहीं ठहराये जा सकते, थोड़ी-बहुत ऊंच-नीच से मुकरा नहीं जा सकता। तब भी जबकि नोटबंदी के फैसले पर अब तक कुछ भी निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:02-04-24

सियासी बहिष्कार

संपादकीय

मालदीव के बाद बांग्लादेश में भी भारत के बहिष्कार का जो अभियान कुछ लोग चला रहे हैं, उसकी जितनी निंदा की जाए कम है। ऐसे लोगों को न तो अपने देश का इतिहास मालूम है और न भारत के योगदान का उन्हें कोई ज्ञान है। मालदीव के सत्ताधारी नेताओं और बांग्लादेश के कुछ विपक्षी नेताओं को अपनी स्वार्थपूर्ण राजनीति के अलावा कुछ भी नहीं सूझ रहा है। माले के बाद अब ढाका में भी भारत विरोध की राजनीति का गरम होना हमें सोचने पर बार-बार विवश करता है। विपक्षी बांग्लादेश नेशनल पार्टी (बीएनपी) लंबे समय से नागरिकों को भारतीय उत्पादों का बहिष्कार करने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। दरअसल, इस प्रमुख विपक्षी दल को लगता है कि भारत सत्तारूढ़ अवामी लीग का समर्थक है और अवामी लीग की जीत में भारत की बड़ी भूमिका है। यह दरअसल, बांग्लादेश के विपक्षी दल की एक बड़ी गलतफहमी है कि भारत सरकार बांग्लादेश में हस्तक्षेप कर रही है। हां, यह जरूर है कि बांग्लादेश की तरक्की में भारत ने यथासंभव सहयोग दिया है और ऐसे समय में बांग्लादेश में जो भी सरकार होगी, वह स्वाभाविक रूप से मजबूत होगी। बांग्लादेश के विपक्षी नेता शायद भूल गए हैं कि जब बांग्लादेश में सैन्य प्रभुत्व बढ़ा था, तब भी भारत ने वहां की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया था।

बहरहाल, बांग्लादेश की सरकार या प्रधानमंत्री ने भारत का बचाव किया है और विपक्षियों के दोहरे रवैये की निंदा की है। दरअसल, बांग्लादेश अगर चाहे भी, तो भारत का बहिष्कार नहीं कर सकता, क्योंकि वहां भारतीय उत्पादों की भरमार है। भारतीय उत्पादों का विरोध व्यावहारिक और सैद्धांतिक, दोनों ही रूपों में अनुचित है। फिर भी न जाने कैसा सियासी लाभ सोचते हुए बीएनपी के वरिष्ठ नेता कबीर रिजवी ने पिछले दिनों अपने कंधे पर पहना हुआ भारतीय शॉल उतार फेंका। भारतीय-कश्मीरी शॉल को फेंकने से पहले उन्होंने यह नहीं सोचा कि वह किस तरह की लड़ाई को बढ़ावा दे रहे हैं। 'हैशटैग इंडियाआउट' और 'बायकॉट इंडियन प्रोडक्ट्स' के नाम पर राजनीति सिवाय गंभीर गलती के और क्या है? विपक्ष के इस अभियान के जवाब में बांग्लादेश की प्रधानमंत्री शेख हसीना ने विपक्षी नेताओं को चुनौती दी है कि जिस दिन आप (बीएनपी) कार्यालय के सामने अपनी पत्नियों की तमाम भारतीय साड़ियों को जला देंगे, उस दिन मुझे विश्वास हो जाएगा कि आप वास्तव में भारतीय सामान का बहिष्कार कर रहे हैं। बेशक, भारतीय साड़ियों के प्रति बांग्लादेश में स्वाभाविक लगाव है, इससे बचा नहीं जा सकता, मगर बहिष्कार के लिए किसी को भी किसी तरह से उकसाना सही नहीं है। वहां सत्ता पक्ष व विपक्ष, दोनों को समझदारी का परिचय देना चाहिए, ताकि भारतीयों की भावना को किसी भी प्रकार से ठेस न पहुंचे।

मालदीव के सत्ताधारी नेता हों या बांग्लादेश के विपक्षी नेता, दोनों को तार्किक ढंग से अपनी शिकायत सामने रखनी चाहिए, ताकि शालीनता के दायरे में भारत पड़ोसी धर्म के अनुकूल सुधार कर सके। किसी अन्य भारत विरोधी देश के इशारे पर फैसला करने के बजाय इन देशों को अपना अतीत, वर्तमान और भविष्य देखना चाहिए। संबंधों में हल्कापन नहीं आए। बांग्लादेश दक्षिण एशिया में भारत का सबसे बड़ा व्यापार भागीदार है। ऐसे में, वहां भारत कदापि राजनीति का विषय न बने। मालदीव की तरह नहीं होना चाहिए कि आप इंडिया आउट का नारा लगाते रहें और आपको भारत से उदार आर्थिक मदद भी चाहिए।

Date:02-04-24

कच्चातिवु जैसे इलाकों को लेने-देने की रवायत पुरानी

स्मृति पटनायक, (रिसर्च फेलो, एमपी-आईडीएसए)

भारत में आम चुनाव की बढ़ती गरमी के बीच कच्चातिवु द्वीप अचानक सुर्खियों में आ गया है। भारत और श्रीलंका के बीच स्थित यह निर्जन द्वीप करीब डेढ़ किलोमीटर लंबा है और भारतीय तट से लगभग 33 किलोमीटर दूर है। इसका मालिकाना हक विवादित रहा है। यह पूरा इलाका पहले पुर्तगालियों के अधीन था, फिर ब्रिटेन का उपनिवेश बना, इसलिए 1947 में भारत के आजाद होने और भूमि-निर्धारण के बाद यहां भारत व श्रीलंका, दोनों के मछुआरे आते-जाते रहे। वे वहां अपने जाल सुखाते थे और फिर मछली पकड़ने निकल जाते। बाद के वर्षों में श्रीलंका ने इस पर अपना दावा किया, जिसके कारण सन् 1974 में समुद्री सीमा-निर्धारण के वक्त भारत ने अपना अधिकार छोड़ दिया। तब यही माना गया था कि ऐसा करने से दक्षिणी पड़ोसी से भारत के संबंध और मजबूत होंगे। हमारे लिए इस द्वीप का कोई सामरिक महत्व भी नहीं है। यहां पर अब भी सालाना कच्चातिवु त्योहार होता है, जिसमें भारत और श्रीलंका, दोनों देशों के मछुआरे भाग लेते हैं। अब आपसी सौहार्द बढ़ाने में इसकी अहमियत मानी जाती है।

भारत ने जमीनों के ऐसे लेन-देन दक्षिण एशिया के कई अन्य देशों के साथ किए हैं। इसका मूल मकसद आपसी विवाद को खत्म करना रहा है। कभी-कभी परिस्थितिवश भी ऐसा किया गया, जैसे बांग्लादेश के साथ। उसके साथ वर्ष 2015 में हमने भूमि- सीमा के निर्धारण का समझौता किया, जिसके तहत 111 सीमावर्ती एन्क्लेव हमने बांग्लादेश को सौंपे और बदले में 51 एन्क्लेव पर अपना अधिकार हासिल किया। यहां कोई कह सकता है कि हमने जितनी भूमि (करीब 17 हजार एकड़) बांग्लादेश को दी, उसकी तुलना में कम जमीन (लगभग सात हजार एकड़) पर कब्जा हासिल किया, पर सच यही है कि कई एन्क्लेव तक जाने के लिए हमें बांग्लादेश की सीमा में जाना पड़ता था। कुछ यही स्थिति बांग्लादेश की भी थी। चूंकि बांग्लादेशी एन्क्लेव तक बांग्लादेशियों की आवाजाही निर्बाध थी, इसलिए तस्करी का अंदेशा भी बना रहता था, इसलिए इसका समाधान आवश्यक था।

यहां न्यू मूर द्वीप की चर्चा भी प्रासंगिक है। इस पर कभी बांग्लादेश और भारत, दोनों अपना दावा जताते रहे, लेकिन बंगाल की खाड़ी का यह द्वीप अब इसलिए चर्चा में नहीं है, क्योंकि यह समुद्र में समा चुका है। उल्लेखनीय यह भी है कि 2014 में संयुक्त राष्ट्र न्यायाधिकरण ने बांग्लादेश को 25 हजार वर्ग किलोमीटर से अधिक के समुद्री दावे में से लगभग 19 हजार वर्ग किलोमीटर का अधिकार दे दिया, जिसे भारत ने बिना किसी विरोध के स्वीकार किया, क्योंकि हम आपसी संबंधों को ज्यादा अहमियत देते रहे हैं।

हमारा एक सीमा विवाद पाकिस्तान के साथ कच्छ के रण को लेकर भी रहा है। 1965 के ताशकंद समझौते के तहत इस विवाद के निपटारे की पटकथा लिखी गई। यह समझौता हालांकि इसलिए याद रखा जाता है, क्योंकि 1965 के युद्ध में पाकिस्तान की पराजय के बाद इसी के तहत भारतीय सैनिकों को वापस बेडे में बुलाया गया, लेकिन इस समझौते से कच्च रण का विवाद भी सुलझा और 1969 में आपसी सहमति से कच्छ विवाद का समाधान हो गया। यहां भूटान का जिक्र भी लाजिमी है। हमने 1947 में आजाद होने के बाद भूटान को संप्रभु देश का दर्जा दिया और देओथांग सहित करीब

82 वर्ग किलोमीटर 'द्वार' (पूर्वोत्तर भारत और दक्षिण भूटान के इलाके) उसे वापस लौटा दिए, जिसे अंग्रेजों ने उससे हड़प लिया था।

सीमा-विवाद को लेकर भारत और नेपाल का मसला खासा अहम है और दूसरों से अलग भी। यहां भारत उस सुगौली संधि के तहत अपनी सीमा का दावा करता है, जिसको ब्रिटिश सरकार ने नेपाल के राजा के साथ 1814-16 के दौरान किया था। उस संधि के तहत नेपाल के कुछ मैदानी इलाके पराधीन भारत के पास आ गए थे। नेपाल इन पर अपना दावा जताता रहता है और इसे 'ग्रेटर नेपाल' का हिस्सा बताता है। फिलहाल, इसके निपटारे के प्रयास भी चल रहे हैं। स्पष्ट है, पड़ोसी देशों के साथ सौहार्द बढ़ाने के लिए जमीनों की अदला-बदली की जाती रही है। यह सीमा-विवाद के निपटारे की स्थापित रवायत है।